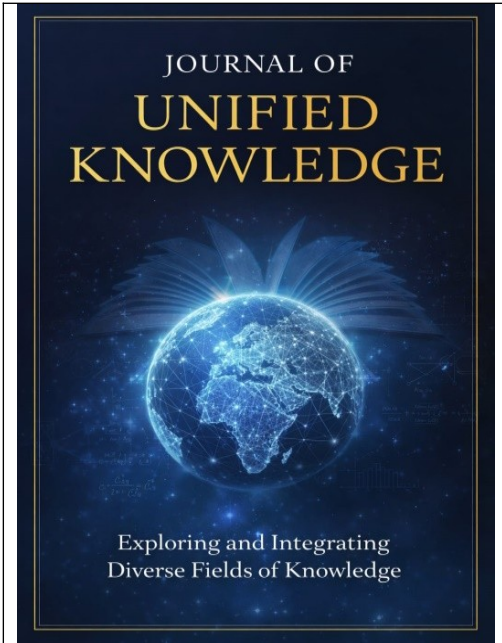




Corresponding author:

छाया शर्मा त्रिवेदी¹ डॉ. हेमलता जोशी²

ISSN: 3139-227X

Submission: June 03, 2026

Review: June 22, 2026

Published: July 30, 2026

प्रकृति-संरक्षण के सामाजिक आयाम : भगवद्गीता के संदर्भ में

छाया शर्मा त्रिवेदी¹ डॉ. हेमलता जोशी²

सारांश

मानव के जीवन का मूल आधार प्रकृति है क्योंकि समस्त प्राणियों का अस्तित्व प्रकृति से जुड़ा हुआ है। वर्तमान में प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन हो रहा है जिससे प्रदूषण बढ़ रहा है। वनों की कमी हो रही है, जल संकट बढ़ रहा है तथा पर्यावरणीय असंतुलन जैसी समस्याएं बढ़ रही हैं। ऐसी समस्याओं के चलते प्रकृति को संरक्षित करने की आवश्यकता अधिक महत्वपूर्ण हो गई है। भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रकृति को उपयोग की वस्तु नहीं माना बल्कि यह एक प्रकार की जीवन व्यवस्था है। इसी संदर्भ में भगवद्गीता के सिद्धांत हमें प्रकृति के प्रति उत्तरदायित्व निभाने के लिए महत्वपूर्ण दृष्टिकोण सिखाते हैं। समाज में प्रकृति-संरक्षण की भावना के विकास में भगवद्गीता के सिद्धांतों की भूमिका को समझाना इस शोध का मुख्य उद्देश्य है। भगवद्गीता में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंच महाभूतों को प्रकृति के स्वरूप में शामिल किया गया है (भगवद्गीता 7.4)। इसी प्रकार अन्न, वर्षा, यज्ञ और कर्म के बीच में सम्बंध बताया गया है (भगवद्गीता 3.14)। गीता में बताये गये कर्मयोग से, आत्मसंयम से, लोकसंग्रह से, यज्ञभावना से उत्पन्न समान दृष्टि तथा सभी महाभूतों जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के प्रति कर्तव्य की भावना तथा मानव जगत और प्रकृति के मध्य संतुलन और इससे होने वाले समाज कल्याण की भावना के विकास के लिए वैचारिक आधार प्रदान

कर सकते हैं। प्रस्तुत अध्ययन हमें यह बताता है कि भगवद्गीता आधुनिक पर्यावरण-विज्ञान का प्रत्यक्ष ग्रंथ नहीं है, परंतु इसमें बताए गये सिद्धांत प्रकृति के साथ कितना संतुलित तथा उत्तरदायी संबंध स्थापित करते हैं।

प्रमुख शब्द : भगवद्गीता, समाज, प्रकृति-संरक्षण, प्रकृति, कर्मयोग, लोकसंग्रह

1. प्रस्तावना

प्रकृति मानव जीवन का मुख्य आधार है। प्रकृति से हमें प्राण मिलता है, प्रकृति ही भोजन, जल, वायु और ऊर्जा का स्रोत है। मानव के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक अनेक संसाधन प्रकृति पर ही निर्भर करते हैं। इसलिए प्रकृति से मनुष्य का संबंध संसाधनों के उपयोग मात्र से नहीं है अपितु यह परस्पर निर्भरता का सम्बंध है। वर्तमान काल में प्राकृतिक संसाधनों का इतना उपयोग बढ़ रहा है कि वन खत्म होते जा रहे हैं, जल स्तर कम होने का संकट तथा हर जगह प्राकृतिक आपदाओं का संकट बढ़ रहा है। यदि अभी इस समस्या पर ध्यान नहीं दिया तो वह समय दूर नहीं जब पीढ़ियां ही खत्म हो जाएंगी। इसलिये मानव तथा प्रकृति के संबंध पर पुनर्विचार की अत्यंत आवश्यकता है। हमें प्रकृति को बचाने के लिये हर सम्भव प्रयास करने चाहिये।

भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण को केवल भौतिक उपयोगिता के आधार पर नहीं समझाया गया बल्कि भारत के इतिहास से संबंधित कई अध्ययनों में धार्मिक विश्वासों, सांस्कृतिक परंपराओं तथा सामुदायिक संरक्षण-प्रथाओं का उल्लेख है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में वन, पर्वत, नदियां पवित्र एवम् पूजनीय हैं और प्रकृति के

¹ शोधार्थी, योग एवम् जीवन विज्ञान विभाग, जै.वि.भा. संस्थान लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

² सहायक आचार्य, योग एवम् जीवन विज्ञान विभाग, जै.वि.भा. संस्थान लाडनूँ-341306 (राजस्थान)

बीच संबंधों का उल्लेख मिलता है। एलिसन ए. ऑर्मीबी और शोनिल ए. भगवत के अध्ययन के अनुसार भारत में ऐसे अनेक पवित्र वन-क्षेत्र रहे हैं जिनका सांस्कृतिक एवं धार्मिक महत्व रहा है और जिन्होंने कुछ क्षेत्रों में जैव-विविधता के संरक्षण में योगदान दिया है (320–26)। (Cambridge University Press) इस संदर्भ में भगवद्गीता का चुनाव इसलिये महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि गीता में प्रकृति के साथ सामंजस्य रखने की बात कही गई है। गीता के मूल विषय कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग हैं परंतु फिर भी इसमें प्रकृति, जीव-जगत, यज्ञकर्म तथा लोककल्याण जैसे विषयों के बारे में बताया गया है।

2. भारतीय समाज में प्रकृति के प्रति ऐतिहासिक एवं आधुनिक दृष्टिकोण

भारतीय समाज में धार्मिक मान्यताओं, सांस्कृतिक परंपराओं और स्थानीय सामुदायिक व्यवस्थाओं में प्रकृति के प्रति सम्मान तथा संरक्षण की भावना के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

2.1 ऐतिहासिक दृष्टिकोण :- प्राचीन भारतीय परंपरा में प्रकृति के विभिन्न तत्वों—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, वनस्पति और जीव-जंतुओं के प्रति सम्मान की भावना दिखाई देती है। “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” (अथर्ववेद। काण्ड 12, सूक्त 1, मंत्र 12) के माध्यम से पृथ्वी और मनुष्य को माता-पुत्र के संबंध के रूप में प्रस्तुत किया गया है। “ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपं ब्रुवे। सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष॥” (ऋग्वेद, मण्डल 10, सूक्त 97, ओषधिसूक्त, मंत्र 3–4) में वनस्पतियों और औषधियों को ‘माता’ तथा ‘देवी’ के रूप में संबोधित किया गया है। “अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति” (ऋग्वेद 2.41.16) में सरस्वती नदी को नदियों और देवियों में श्रेष्ठ बताया गया है। इसी प्रकार (अथर्ववेद 6.59) में गाय, बैल तथा अन्य चतुष्पद प्राणियों की रक्षा और कल्याण के लिए प्रार्थनाएँ मिलती हैं। इन वैदिक संदर्भों से यह संकेत मिलता है कि प्रकृति और उसके अवयवों को जीवन-व्यवस्था और सम्माननीय अंग के रूप में देखने की दृष्टि भारतीय वैदिक ग्रंथों में विद्यमान है।

2.2 आधुनिक दृष्टिकोण :- आधुनिक काल में औद्योगीकरण, शहरीकरण, बढ़ती जनसंख्या और प्राकृतिक संसाधनों के बढ़ते उपयोग के कारण मानव और प्रकृति के संबंध में बहुत परिवर्तन आया है। प्रकृति का उपभोग बढ़ा है जिसके परिणामस्वरूप वनों की कटाई, जल-संकट, प्रदूषण और जैव-विविधता के हास जैसी पर्यावरणीय समस्याएँ सामने आई हैं। इसके साथ ही आधुनिक भारत में पर्यावरण संरक्षण के प्रति कुछ जागरूकता भी विकसित हुई है। जहाँ कई लोग ऐसे हैं जिन्होंने वन एवं जैव-विविधता संरक्षण में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। फिर भी प्रकृति का हास होता जा रहा है। अतः उपयुक्त रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय परंपराओं में प्रकृति के प्रति सम्मान, संरक्षण और सह-अस्तित्व की महत्वपूर्ण विचारधारा रही है जिसे आधुनिक परिपेक्ष में समझने की आवश्यकता है।

3. भगवद्गीता में प्रकृति की अवधारणा

भगवद्गीता के सातवें अध्याय में श्रीकृष्ण प्रकृति के आठ प्रकार बताते हैं—

“भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।

अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥”

(भगवद्गीता 7.4)

इस श्लोक में श्री कृष्ण बताते हैं की प्रकृति के आठ मूल तत्व हैं भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार। इसमें बाह्य प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, को माना गया है तथा आंतरिक प्रकृति मन, बुद्धि, अहंकार को माना गया है। साथ दोनों के संतुलन का महत्व बताया गया है। गीता में यह बताया गया है कि प्रकृति की अवधारणा केवल बाहर तक सीमित नहीं है बल्कि मानव की आंतरिक प्रवृत्तियाँ भी इसमें शामिल हैं। अतः प्रकृति के प्रति संतुलन और संरक्षण का दृष्टिकोण होना आवश्यक है।

“अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥”

(भगवद्गीता 7.5)

इसमें श्री कृष्ण प्रकृति के दो रूप बताते हैं। एक अपरा प्रकृति और दूसरा परा प्रकृति। अपरा जो जड़ प्रकृति है, भौतिक तत्व है और परा प्रकृति जो चेतन प्रकृति है, जीव प्रकृति है। इसमें यह बताया है प्रकृति केवल भौतिक रूप में नहीं हैं। भूमि, जल, वायु की रक्षा करना ही नहीं बल्कि सभी जीवों की रक्षा करना, सभी जीवों के प्रति संवेदनशील रहना तथा संरक्षण की भावना रखना भी आवश्यक है।

4. प्रकृति, यज्ञ और जीवन-व्यवस्था

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में अन्न, वर्षा, यज्ञ और कर्म के बीच संबंध स्थापित किया गया है—

“अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥”

(भगवद्गीता 3.14)

इसमें कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं तथा अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है और वर्षा यज्ञ से होती है यहां अन्न, वर्षा, यज्ञ एवम् कर्म का परस्पर सम्बंध बताया गया है। यह श्लोक प्रकृति और मनुष्य के बीच परस्पर संबंध को बताता है। प्रकृति और मानव एक दूसरे के प्रति निर्भर हैं मनुष्य प्रकृति से अलग नहीं है बल्कि उसका जीवन वर्षा, अन्न और प्राकृतिक चक्र पर निर्भर करता है और मनुष्य यज्ञ कर्म कर प्रकृति के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण करता है, इसलिए यह परस्पर निर्भरता को दर्शाता है।

5. भगवद्गीता के सिद्धांत और प्रकृति-संरक्षण

5.1 कर्मयोग और कर्तव्य-बोध

भगवद्गीता में कर्मयोग का विशेष महत्व है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

“कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥”

(भगवद्गीता 2.47)

यह श्लोक मनुष्य को प्रकृति के प्रति कर्तव्य भावना को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। मनुष्य को प्रकृति के प्रति अपने कर्तव्य को समझ कर जल, भूमि, वन और जीवों के संरक्षण को अपना कर्तव्य मानना चाहिए। इस प्रकार निष्काम कर्म की भावना समाज में प्रकृति के प्रति जिम्मेदारी एवम् प्रकृति संरक्षण के लिए बहुत उपयोगी साबित होगी।

5.2 संयमित जीवन

प्रकृति-संरक्षण का संबंध व्यक्ति की जीवनशैली से भी है। भगवद्गीता में संतुलित आहार-विहार और जीवन-पद्धति पर बल दिया गया है—

“युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥”

(भगवद्गीता 6.17)

श्री कृष्ण यहां संतुलित जीवन और संयम का महत्व बताते हैं। भोजन संतुलित करना चाहिए, दिनचर्या और व्यवहार में संयम रखना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य को अपने जीवन में भोजन, निद्रा में भी संतुलन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रकृति के संसाधनों का भी संतुलित और संयमित उपयोग करना चाहिए। इससे समाज में संयमित, संतुलित और जिम्मेदार व्यवहार विकसित होता है।

5.3 लोकसंग्रह और सामूहिक उत्तरदायित्व

प्रकृति-संरक्षण केवल व्यक्तिगत प्रयास का विषय नहीं है। पर्यावरणीय समस्याओं का प्रभाव संपूर्ण समाज पर पड़ता है। भगवद्गीता में लोकसंग्रह की अवधारणा से व्यक्ति संपूर्ण समाज के लिये हित कर्म कर सकता है—

“कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि॥” (भगवद्गीता 3.20)

इस श्लोक में यह बताया गया है कि व्यक्तिगत लाभ के लिए ही नहीं बल्कि समाज और सभी जीवों के हित के लिए भी कर्म करना चाहिए। इस श्लोक में लोकसंग्रह की भावना को प्रकृति संरक्षण से जोड़ा जा सकता है। अतः मनुष्य को यह समझना आवश्यक है कि प्रकृति के संसाधनों का संरक्षण लोक हितकारी है।

5.4 समदृष्टि और जीव-जगत

भगवद्गीता के छठे अध्याय में योगी की समदृष्टि का उल्लेख मिलता है—

“सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥”

(भगवद्गीता 6.29)

इस श्लोक में बताया गया है कि सभी प्राणियों के मध्य एक ही चेतना विद्यमान है। सभी प्राणियों को समान पूर्वक दृष्टि से देखना चाहिये। किसी भी जीव के प्रति घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। मनुष्य को केवल अपने हित के बारे में नहीं सोचना चाहिए। सभी जीवों के प्रति सम्मान और संवेदनशील दृष्टिकोण रखना चाहिए। इस भावना से प्रकृति के संरक्षण की भावना और मजबूत होती है।

6. भारतीय समाज में प्रकृति-संरक्षण की भावना के विकास में भगवद्गीता की भूमिका

उपर्युक्त सिद्धांतों को देखकर यह प्रतीत होता है कि गीता में प्रकृति संरक्षण की भावना एक महत्वपूर्ण एवं मूल्य परक आधार प्रदान करती है। इन श्लोक में बताए गए उपदेश तथा ज्ञान यह बताते हैं कि समाज के दृष्टिकोण से यह बहुत महत्वपूर्ण है प्रकृति संरक्षण का उत्तरदायित्व केवल कानून द्वारा सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। इसे हम समाज से शुरू कर सकते हैं। समाज को प्रकृति के संरक्षण के लिए कुछ प्रयास करने आवश्यक है जैसे भगवद् गीता में बताया गया है कि समाज को प्रकृति के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिये।

6. निष्कर्ष

वर्तमान समय में पर्यावरण की समस्याएं प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण तक सीमित नहीं हैं अपितु बाढ़, भूस्खलन, जल संकट, प्रदूषण और जैव विविधता में कमी जैसी समस्याएं मानव समाज के लिए गंभीर चुनौतियाँ बनी हुई हैं, ऐसी परिस्थितियों में हमें प्रकृति के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहिए, प्रकृति के प्रति उत्तरदायी व्यवहार करना चाहिए व संसाधनों का विवेक पूर्ण उपयोग करना चाहिए। यह सिद्धांत वैज्ञानिक तकनीक और पर्यावरणीय कानून का स्थान नहीं लेते हैं लेकिन व्यक्ति के दृष्टिकोण और उसके व्यवहार को अधिक उत्तरदायी बनाते हैं। प्रस्तुत पुस्तकालय-आधारित अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता आधुनिक पर्यावरण-विज्ञान या पर्यावरण-नीति का प्रत्यक्ष ग्रंथ नहीं है। इसके बावजूद प्रकृति, कर्म, यज्ञ, संयम, लोकसंग्रह, समदृष्टि और सर्वहित से संबंधित इसके विचार प्रकृति के प्रति उत्तरदायी दृष्टिकोण के निर्माण के लिए महत्वपूर्ण दार्शनिक एवं नैतिक आधार प्रदान कर सकते हैं।

7. संदर्भ ग्रंथ सूची

रामसुखदास, स्वामी। श्रीमद्भगवद्गीता साधक-संजीवनी। गीता प्रेस, गोरखपुर।

चिन्मयानंद, स्वामी। श्रीमद्भगवद्गीता। चिन्मय मिशन।

राधाकृष्णन, सर्वपल्ली। भगवद्गीता। राजपाल एंड संस।

तिलक, बाल गंगाधर। श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र। गीता प्रेस, गोरखपुर।

अथर्ववेद। काण्ड 6, सूक्त 59; काण्ड 12, सूक्त 1, मंत्र 12।

ऋग्वेद। मण्डल 2, सूक्त 41, मंत्र 16; मण्डल 10, सूक्त 97, मंत्र 3–4।

Ormsby, Alison A. & Shonil A. Bhagwat। “Sacred Forests of India: A Strong Tradition of Community-Based Natural Resource Management.” *Environmental Conservation*, 37.3, 2010. page 320–326। Cambridge University Press, doi:10.1017/S0376892910000561।

Sen, Supratik। “The Eco-Theology of the Bhagavad Gītā: A Multi-Layered Ethical Theory.” *Religions*, 12.4, 2021, 241। MDPI, doi:10.3390/rel1204024